शिक्षा का आशय

गिरीश्वर मिश्र*

व्यक्ति और समाज के निर्माण में शिक्षा की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। देश-काल में बदलाव के साथ शिक्षा की भूमिका और स्वरूप में अनेक परिवर्तन होते रहे हैं। इन परिवर्तनों के बावजूद यह माना जा सकता है कि शिक्षा की पूरी संरचना और प्रक्रिया कुछ सार्वभौमिक मूल्यों के प्रति समर्पित है। जिसे हमने वैदिक काल से ही पाया एवं स्वीकारा है। वैदिक काल में शिक्षा को विद्या के रूप में अर्थात् 'सा विद्या या विमुक्तये' के रूप में अपनाया गया। धीरे-धीरे वैदिककालीन शिक्षा या कहें विद्या परंपरा दुर्बल होती गई और अंग्रेज़ी उपनिवेश काल तक आते-आते शिक्षा का कायापलट हो गया। जिसमें पाश्चात्य ज्ञान की श्रेष्ठता को स्थापित किया गया। इस कारण हमने अपनी प्राचीन भारतीय शिक्षा प्रणाली को खोया तथा अब शिक्षा बाज़ारी व उपभोग प्रधान हो गई। अब हमें कुछ नवाचारों की आवश्यकता है ताकि शिक्षा को प्रासंगिक बनाया जा सके। ये नवाचार व्यक्ति और समाज के जीवन के लिए प्रासंगिक होने चाहिए। जो 'वसुधैव कुटुम्बकम्' जैसी उदार और समावेशी मानसिकता को बताते हों। इस लेख में इन्हीं शैक्षिक विचारों, आदर्शों, मूल्यों आदि पर गहन चिंतन एवं व्यापक जन कल्याणकारी दृष्टिकोण प्रस्तुत किया गया है।

व्यक्ति और समाज के निर्माण में शिक्षा की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। यदि मानव संस्कृति की विकास यात्रा पर दृष्टिपात करें तो यही पाएँगे कि व्यक्ति और समुदाय, दोनों ही स्तरों पर वांछित लक्ष्यों को पाने के लिए सभी सभ्य समाजों में शिक्षा की संस्था की संकल्पना की गई। देश-काल में बदलाव के साथ शिक्षा की भूमिका और स्वरूप में अनेक परिवर्तन होते रहे हैं। शिक्षा के उद्देश्यों, विषय-वस्तु, माध्यम, अध्यापन और शिक्षकों की तैयारी आदि में भी इन परिवर्तनों का अवलोकन किया जा सकता है। सारी विविधताओं के बावजूद यह मानना उचित जान पड़ता है कि शिक्षा की पूरी संरचना और प्रक्रिया कुछ सार्वभौमिक मूल्यों के प्रति समर्पित है। भारतीय संदर्भ में 'सा विद्या या विमुक्तये' और 'ऋते ज्ञानान्न मुक्ति' कह कर हमारे शिक्षा या विद्यार्जन को एक मुक्तिदायी उपक्रम माना गया है। यह मुक्ति उन विभिन्न प्रकार के क्लेशों या तापों से मुक्ति को बताती है जिनसे मनुष्य पीड़ित रहता है। यह मुक्ति बहुआयामी है। यह परम तत्व से एकाकार होने की बाधाओं से मुक्ति है, 'मैं-अन्य' के भेद से मुक्ति है, भौतिकतावाद और इससे उपजने वाले अन्यान्य विकारों से मुक्ति है। यह ज़रूर कहा गया कि इस

* *कुलपति*, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा, महाराष्ट्र – 442001

(नोट—पंडित सुन्दर लाल शर्मा छत्तीसगढ़ मुक्त विश्वविद्यालय बिलासपुर के तीसरे दीक्षांत समारोह के अवसर पर प्रस्तुत व्याख्यान का संशोधित एवं संपादित रूप)

मुक्ति की सिद्धि धर्मानुकूल पुरुषार्थ की साधना से ही संभव है —

अजरामरवत्प्राज्ञः विद्यामर्थं च चिंतयेत
गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत।

अर्थात् मनुष्य को स्वयं को अजर (बृद्धत्वरहित अर्थात् चिर युवा) और अमर मानते हुए विद्या और अर्थ की चिंता करनी चहिए तथा मृत्यु अपने हाथ से केश पकड़े हुए है यह मानकर धर्म का आचरण करना चाहिए।

विद्या की महिमा का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है कि, एक सुपात्र के लिए वह 'कल्पलता' की तरह सब कुछ सिद्ध कर देती है। परंतु यह भी कहा गया है कि वास्तविक ज्ञानी उसी को कहते हैं जो मात्र पुस्तकीय ज्ञान नहीं रखता। उसे कार्य-क्षम भी होना चाहिए— 'यस्तु क्रियावान पुरुषः स विद्वान'। शिक्षा की प्रक्रिया विद्या उपलब्ध कराने वाली साधना है जो अन्य साधनाओं का मार्ग भी प्रशस्त करती है। परंतु उसके लिए पात्रता आवश्यक है। हम बचपन से पढ़ते आए हैं —

विद्या ददाति विनयं विनयाद याति पात्रताम ।
पात्रत्वात धनमाप्नोति धनाद धर्मं ततः सुखम ॥

अर्थात् ज्ञान या विद्या की प्राप्ति विनय से होती है, विनय से पात्रता मिलती है, पात्रता से धन की पात्रता होती है, धन से धर्म का आचरण किया जाता है और फिर उस आचरण से सुख मिलता है। यदि शिक्षा, सुख का साधन है तो स्वाभाविक है कि वह सत-असत विवेक का विकास करे जो विभिन्न प्रकार के 'क्लेशों' से निपटने में हमारी मदद करे। वास्तविक शिक्षा तनाव, अवसाद, घृणा और हिंसा जैसे विकारों को दूर करती है।

चूँकि मनुष्य केवल भौतिक शरीर वाला पशु मात्र नहीं है, उसमें मानस भी है, आत्मा भी है इसलिए मात्र भौतिक सुख पाना ही पर्याप्त नहीं है। *तैत्तिरीयोपनिषद्* के अनुसार, मनुष्य पंचकोशात्मक संरचना है जिसमें अन्नमय कोश, प्राणमय कोश, विज्ञानमय कोश, मनोमय कोश और आनंदमय कोश सम्मिलित हैं। यह भी कहा गया है कि वास्तविक स्व या आत्मन इनसे भी परे हैं। तात्पर्य यह है कि हम शरीर मात्र नहीं हैं, हमारा आध्यात्मिक स्वरूप भी है। हम वस्तुतः चैतन्य स्वरूप हैं। इसकी अनुभूति सरल नहीं है, क्योंकि सत्य का मुख चमकीले आवरण से ढका रहता है। तभी निर्देश दिया गया, 'आत्मानं विद्धि', अपने को जानो। इस व्यापक आत्मबोध के अनुरूप भारतीय ज्ञान परंपरा में परा और अपरा, दोनों ही तरह की विद्याओं के साथ सर्वांगीण शिक्षा की संकल्पना की गई थी। *कठोपनिषद्* में नचिकेता यही जानने की इच्छा करता है। कालांतर में भी यह परंपरा चलती रही। बुद्ध, महावीर और वेदांत की परंपरा में शंकर, रामानुज, वल्लभ आदि ने इन प्रश्नों पर गंभीर विचार किया। देश के विभिन्न भागों में संतों और भक्तों ने भी भिन्न-भिन्न शैली में मनुष्य के व्यापक अस्तित्व की व्याख्या की। आधुनिक काल में महर्षि रमण और श्री अरविंद जैसे साधकों ने यह कार्य आगे बढ़ाया।

धीरे-धीरे यह परंपरा दुर्बल होती गई। अंग्रेज़ी उपनिवेश काल तक आते-आते शिक्षा का जो कायापलट हुआ, उसने शिक्षा और उसके द्वारा भारतीय मानस की बनावट और बुनावट को गहनता और व्यापकता के साथ प्रभावित किया। उसने शिक्षा के अमृत वृक्ष को उखाड़ फेंका और ज्ञान की

गवेषणा करने वाले जिज्ञासु की जगह अर्थ-पिपासु की परंपरा स्थापित की। समृद्ध भारतीय ज्ञान परंपरा को निरस्त करते हुए भारतीय चेतना में पाश्चात्य ज्ञान की श्रेष्ठता को स्थापित किया गया। उपेक्षा और अनुपयोग के कारण वह सब अधिकांश भारतीयों के लिए अपरिचित और अप्रासंगिक होता गया। उसके प्रति दुर्भाव भी पनपने लगा और उसे तिरस्कृत किया जाने लगा। औपनिवेशिक प्रभाव में हमारा मानस बना कि अंग्रेज़ी भाषा और पश्चिमी शिक्षा प्रणाली को अपनाकर हम सर्वोत्कृष्ट बन जाएँगे पर हुआ इसके विपरीत। जो भारत नालंदा, तक्षशिला, विक्रमशिला और ओदंतपुरी जैसे विश्वविद्यालयों के लिए प्राचीन काल में विश्व प्रसिद्ध था और विदेश से लोग पढ़ने आते थे, वह शिक्षा की दृष्टि से निचले स्तर पर चला गया। अंग्रेज़ी और अंग्रेज़ियत ने हम पर ज़बरदस्त अधिकार जमा लिया। आज स्थिति यह है कि अस्पष्टता के कारण सांस्कृतिक क्षति हो रही है और उसके चलते अधिकांश भारतीय बोलने और सोचने को लेकर विभाजित व्यक्तित्व वाले होते जा रहे हैं। हमने जिस बाहरी आवरण को अपनाने की कोशिश की, उससे तालमेल नहीं बैठा पाए। इसके चलते जो मौलिक रूप से हमारा देशज था, उससे भी संबंध कमज़ोर होता गया। इसका सम्मिलित दुष्परिणाम यह हुआ कि भारतीयों पर अंग्रेज़ी के साथ अंग्रेज़ियत हावी होने लगी। हम सब धर्म, आयुर्वेद, भाषा, पशु, पक्षी, प्रतिमा, पुरातत्व, कला, राजनीति, अर्थशास्त्र, स्थापत्य आदि विविध क्षेत्रों में भारतीय संस्कृति के अवदान से भी अपरिचित हो रहे हैं। हम सांस्कृतिक विस्मृति की ओर तेज़ी से बढ़ रहे हैं। हमने ऐसी विश्व दृष्टि और जीवन शैली को स्वीकार किया जिसमें सांस्कृतिक साहचर्य का अभाव था। अपनी सांस्कृतिक विरासत से कटकर हमने ऐसा मार्ग चुना जो श्रेयस्कर न था। शिक्षा अर्थकरी व्यवस्था के अधीन होती गई। बाज़ार और उपभोग ही जीवन में प्रधान होते गए।

हमारे यहाँ के कुछ लोकप्रिय आदर्श विचारणीय हैं—'तेन त्यक्तेन भुंजीथा:' अर्थात् त्याग के साथ भोग करना चाहिए, 'सर्वे भवंतु सुखिनः' अर्थात् सभी के सुख की कामना करनी चाहिए और 'वसुधैव कुटुम्बकम्' अर्थात् पूरी धरती ही कुटुम्ब जैसी है। ये सभी उदार और समावेशी मानसिकता को बताते हैं। यह समाज केवल बाज़ार और भोग के सहारे रहने की दिशा में आगे बढ़ रहा है। यह सांस्कृतिक असातत्य और विसंगति को जन्म देता है। फलत: आज हम सब दैनंदिन जीवन में कई समस्याओं के साथ उलझ रहे हैं। इन्हें पश्चिम के ज्ञान के सहारे भारतीय समाज और इसकी अस्मिताओं की समस्याओं या पश्चिम जैसे बदलाव के रूप में पहचाना गया। जबकि यह वस्तुत: 'विभ्रम में पल रहे समाज' की सांस्कृतिक विस्मृति के परिणामस्वरूप पश्चिम जैसे बनावटी समाज की ओर बढ़ने की परिणति थी। इस प्रवृत्ति के प्रति हम सचेत हुए और समय-समय पर अपने यहाँ प्रचलित शिक्षा की अनेक दुष्ट प्रवृत्तियों की ओर विभिन्न शिक्षा आयोगों और समितियों ने ध्यान आकृष्ट किया, परंतु हमारे मोह और तज्जनित आवरण में कुछ भी स्पष्ट नहीं हो रहा है। फलतः 'गलत है' यह जानकर भी भ्रांतिवश और साहस न होने के फलस्वरूप शिक्षा में सार्थक परिवर्तन नहीं हो सका है। इसके स्थान पर राजनैतिक पसंद और नापसंद के अनुसार शिक्षा में यथासमय विविध

प्रकार के परिवर्तन और प्रयोग किए जाते रहे। उसके समर्थन में तर्क-कुतर्क गढ़े जाते रहे। आज शिक्षा भाराक्रांत-सी होती जा रही है और उसमें सामर्थ्य की दृष्टि से सार्थक बदलाव नहीं आ सका है।

आज भारतीय शिक्षा में स्तर-भेद, क्षेत्र-भेद और गुणात्मक-भेद जिस तरह बढ़े हैं और व्यावसायिकता जिस तरह से उसे प्रभावित कर रही है, उनके फलस्वरूप समतामूलक, संस्कारपरक शिक्षा दुर्बल हुई है। इसके लिए नवाचारों की आवश्यकता है ताकि शिक्षा को प्रासंगिक बनाया जा सके। इन नवाचारों को अपनाते समय यह ध्यान रखना होगा कि क्या ये हमारी संस्कृति और संदर्भ के सापेक्ष हैं? कहीं ऐसा तो नहीं की नवाचारों के नाम पर पुनः 'दूसरे' का अंधानुकरण किया जा रहा है। हमारे नवाचारों के मूल में शिक्षा की उसी भूमिका को साधने का लक्ष्य होना चाहिए जहाँ वह 'मुक्ति' 'विवेक' और 'सहअस्तित्व' जैसे मूल्यों से अनुप्राणित है, जहाँ वह व्यक्तिनिष्ठता के मोहपाश में बाँधने के बदले प्रकृति और समाज से उसके रिश्ते को मज़बूत करने का बोध पैदा कर रही है।

ऐसे नवाचारों के संदर्भ में पहली शर्त है कि वे व्यक्ति और समाज के जीवन के लिए प्रासंगिक हों। क्योंकि समाज या संस्कृति से शिक्षा का पोषण होता है और उसके उपयोग की दृष्टि से आज शिक्षा एक दुःस्वप्न जैसी होती जा रही है। शिक्षा संस्थाओं से ढलकर विद्यार्थी एक बड़ी यांत्रिक व्यवस्था के उपकरण का रूप लेने लगता है। प्रतिस्पर्धा की दुनिया में उसका उद्देश्य सफलता, उपलब्धि और भौतिक प्रगति के मार्ग पर निरंतर आगे बढ़ने तक चूकता जा रहा है। इस दौड़ में अधिकाधिक एकरूपता या 'यूनिफ़ॉर्मिटी' बरती जा रही है जो शिक्षार्थी के मानस को सीमित और संकुचित बनाती जाती है। प्रचलित शिक्षा मनुष्य को स्वचालित रोबोट बनाने पर ज़ोर देती है। इस शिक्षा से निकलने वाले होनहार युवा जिस सीढ़ी के सहारे चढ़कर ऊपर पहुँचते हैं, उस सीढ़ी से बेझिझक अलग हो जाते हैं। वे उस भूमि से बेझिझक अलग हो जाते हैं, जिसने उन्हें जीवन प्रदान किया। आज शिक्षा, सांस्कृतिक विचार, विश्वास, सहयोग, सहनशीलता आदि की कीमत पर दी जा रही है। ये वे हैं जो ऊर्जा के केंद्र हैं और जिन्हें किसी भी दिशा में मोड़ा जा सकता है। इसमें उनकी निजी लाभ वाली तीव्र महत्वाकांक्षा और वैश्विक नागरिक होने के लिए उतावलापन प्रमुख हैं। उनमें सामाजिक सृजनात्मकता और सामाजिक सकारात्मकता दुर्लभ होती जा रही है। ऐसी स्थिति में हमारे नवाचार और विकल्प अंधकारमय समाज की ओर बढ़ने से रोकने वाले होने चाहिए। हमें ऐसे विकल्पों को प्रतिष्ठित और प्रासंगिक मानने का साहस भी करना होगा।

भारत में पहले कई तरह के विद्यालय चलते रहे हैं। यहाँ प्राचीन काल में गुरुकुल, पाठशाला, अग्रहार और मदरसा मौजूद थे और अंग्रेज़ अधिकारी जब यहाँ पहुँचे तो यहाँ की स्थिति देखकर दंग रह गए। उन्होंने जो रपटें लिखीं, वे आश्चर्यजनक रूप से प्रारंभिक शिक्षा की अच्छी स्थिति प्रदर्शित करती हैं। शिक्षा की संस्था समाज और संस्कृति से जुड़ी थी। शिक्षण पद्धति में सामुदायिकता का भाव विद्यमान था। शिक्षा के संस्थानों का समाज से गहरा संबंध था। इन्हीं विशेषताओं को महात्मा गांधी ने अंग्रेज़ी शिक्षा का विरोध करते हुए रेखांकित किया था

और बाद में चलकर धर्मपाल जी ने ऐतिहासिक विश्लेषण द्वारा इसके प्रमाण दिए। इन्हीं विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए गांधीजी ने 'नई तालीम' और बुनियादी शिक्षा का विचार दिया। इसमें शरीर, हाथ, बुद्धि सबका संतुलन अभीष्ट था। उन्होंने इस उद्यम के लिए स्थानीय संसाधन के उपयोग का भी प्रस्ताव दिया। इसमें निरी बौद्धिकता पर बल न देकर सर्वांगीण विकास पर ध्यान दिया गया। बापू की मानें तो शिक्षा, शरीर, मन, आत्मा, सभी विचार के केंद्र में हैं।

शिक्षा मनुष्य को स्वावलंबन, देशभक्ति, आत्म-संपन्नता और संयम सिखाती है। इन्हीं मूल्यों पर आधारित शिक्षा पर अनेक प्रयोग गुरुदेव रबींद्रनाथ ने शांतिनिकेतन में किए। श्री अरबिंद ने शिक्षा को मानव के विकास की उच्चतम अवस्था तक पहुँचने के साधन के रूप में बताया था। रुक्मिणी देवी अरंडेल ने कला क्षेत्र, एनी बेसेंट तथा जे. कृष्णमूर्ति ने भी प्रयास किए। गिजुभाई बधेका ने अभिनव प्रयास किए। इन सब प्रयासों में जीवन कौशलों और कला पर भी ज़ोर दिया गया, जिससे बच्चे को उसके आस-पास की दुनिया को अनुभव करने और जुड़ने का भी अवसर मिले। वह खुद को, प्रकृति को और समाज को जानने के लिए दूसरे के बताए ज्ञान पर निर्भर न रहकर खुद ज्ञान का अन्वेषी बने। ऐसे अन्वेषी ही सही अर्थों में, ज्ञान और आविष्कार के नए क्षितिज खोलने में समर्थ होते हैं। अन्यथा शिक्षा तो श्रमिक पैदा कर ही रही है। हमारी पद्धति में, जो केवल 'विलुप्त प्राय इतिहास' नहीं है, बल्कि जिसका वर्तमान भी है, समग्र व्यक्तित्व के उल्लास और विकास की परिकल्पना है। इसके लिए सिर्फ़ पुस्तकीय ज्ञान पर्याप्त नहीं है। प्राचीन और नए हुनर, हस्तकलाएँ भी आनी चाहिए। इनका ज्ञान केवल धर्नाजन या उत्पादन मात्र के लिए नहीं है। ये हमें हमारी संस्कृति से जोड़ती हैं और खुद को खोजने, जीने और जानने का रास्ता दिखाती हैं।

वस्तुतः शिक्षा समाज के मानस का निर्माण करती है। वह मूर्त और अमूर्त, दोनों माध्यमों से मूल्य का संप्रेषण करती है। शिक्षा के परिसर में बच्चे को सहयोग, मित्रता, प्रेम, भाईचारा, ईमानदारी, पारस्परिक भरोसा और उपकार जैसे सद्गुणों को जानने-समझने का अवसर मिलता है। यदि उनके अनुभवों को व्यवस्थित नहीं किया गया तो घृणा और द्वेष भी पनप सकता है। यह कटु सत्य है कि आज हम जिस पाश्चात्य ज्ञान से अभिभूत हैं और जो पाश्चात्य शिक्षा प्रत्यारोपित की जा रही है, वह एक हद तक भारतीय मूल्यों को विस्थापित कर रही है। इससे विसंस्कृतीकरण और विमानवीकरण की प्रवृत्ति तेज़ी से बढ़ रही है। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि आर्थिक संपन्नता से सांस्कृतिक विपन्नता की भरपाई कभी नहीं हो सकती। नैतिक मूल्यों का अभाव, तनाव, द्वंद्व, हिंसा, असहनशीलता तो किसी भी समाज में, किसी भी शर्त पर स्वीकार्य नहीं होने चाहिए।

निजीकरण के दौर में अब धीरे-धीरे शिक्षा एक खास तरह का व्यापार बनती जा रही है। विद्यालय के साथ समाज का रिश्ता कमज़ोर होता जा रहा है। इनके संचालन में जन भागीदारी बहुत कम है। प्रक्रिया के स्तर पर शिक्षक और सहपाठी के साथ विद्यालय के सहयोग की समस्या बढ़ रही है। पाठ्यचर्या और पाठ्यपुस्तक लोगों के मानस को अनुबंधित कर रहे हैं, आधुनिकता और यहाँ की ज्ञान परंपरा के बीच

सामंजस्य नहीं बन पाया है। संचार तथा सूचना प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में प्रगति हो रही है, पर इन सबके बीच आदमी खो गया है। अब लोग बुद्ध, महावीर, ईसा, महात्मा गांधी के आदर्श भूल रहे हैं। हम किधर जा रहे हैं? यह विचारणीय है। भौतिकता ही यथार्थ है, यह मिथक तोड़ना होगा। यंत्र मानसिकता का रोग छुड़ाना होगा।

शिक्षा में सामाजिक और ब्रह्मांडीय चेतना ही आधुनिक आत्म-केंद्रित उपभोक्तावाद का समाधान दे सकती है। अहम् का प्रकृति पर विजय की जगह, प्रकृति और समाज के बीच सहज संबंध स्थापित करने से ही स्वराज, स्वदेशी और सर्वोदय जैसे व्यापक विचार जीवित होंगे। शांति की संस्कृति का विकास नैतिक अनुशासन से ही आ सकेगा। तभी बच्चे में श्रेष्ठ का आविष्कार और स्वावलंबी जीवन की साध पनप सकेगी। तभी पूर्ण सामाजिक विकास और धार्मिक समानता भी आएगी।

यह स्मरण रखना होगा कि मनुष्य के रूप में जन्म एक बहुमूल्य उपलब्धि है। इसकी असाधारण क्षमता का पूरा लाभ उठाना चाहिए और अन्य प्राणियों के हित में उपयोग करना चाहिए। अन्यथा मनुष्य जन्म व्यर्थ हो जाता है। यह जन्म बड़ी सुविधा और अवसर देने वाला होता है। पशुओं को धर्म ज्ञान नहीं होता। फलतः उनमें अविद्या का क्लेश बहुत अधिक होता है। धर्म के अभ्यास की क्षमता सभी में होती है। उसे ध्यान में रखकर मनुष्य को अपनी चरम क्षमता का अन्वेषण करना चाहिए। मनुष्य में रचना और ध्वंस, दोनों ही तरह की क्षमताएँ विद्यमान होती हैं। दोनों ही दृष्टियों से मानव-जन्म की क्षमता अभूतपूर्व है। इस जीवन को व्यर्थ करना ठीक नहीं है। इसकी क्षमता का सदुपयोग करना चाहिए। आखिरकार दया, शांति, परोपकार, अहिंसा, सहयोग, दान आदि व्यवहार ही तो हमें पशु से अलग मनुष्य बनाते हैं। भ्रमवश हम क्रूरता, प्रभुत्व, आत्मभाव, आत्मश्लाघा आदि के चक्र में फँस जाते हैं। ये तो मनुष्यों के लिए वर्जित हैं। आज आये दिन नैतिक मूल्यों के प्रश्न खड़े हो रहे हैं। हम यह भूल जाते हैं कि त्याग ही नैतिकता की आधारशिला है। नैतिकता की पुकार है — 'निःस्व' (स्व नहीं) होना। नैतिक नियमों का आदर्श आत्म-त्याग ही है। अहंता का भाव समाप्त करना होगा।

उपयोगितावादी विचारधारा स्वयं के सुख और आनंद की प्राप्ति को ही परम लक्ष्य मानती है। सांसारिकता भौतिकवादी बनाती है जिसमें सब कुछ यहीं और अभी होना अभीष्ट होता है। परंतु तात्कालिकता से ही बात नहीं बनती है। मनुष्यता प्रकृति से ऊपर उठने में है। हम बाहरी प्रकृति को तो जीत लेते हैं, अभ्यांतर प्रकृति भी जीतनी होती है। मनोवेग, भावनाओं और इच्छाओं पर नियंत्रण अधिक जटिल, परंतु अधिक महत्वशाली है। इंद्रिय-जनित सुख में आनंद की अनुभूति निम्नतम स्तर की मानी गई है। कला, दर्शन तथा विज्ञान आदि में आनंद की अनुभूति उससे ऊपर है। आध्यात्मिक स्तर का आनंद ही सर्वोच्च होता है। आध्यात्मिक आदर्शों पर चलने से मिलने वाली शक्ति अपरिमित होती है। मानव मन के विकास के साथ आध्यात्मिक विकास भी होता है। इसीलिए भारत की ज्ञान परंपरा में लौकिक और पारलौकिक या कहें कि भौतिक जगत और आध्यात्मिक जगत, दोनों का ज्ञान ज़रूरी माना गया था। यहाँ पर 'परा' और 'अपरा', दोनों ही तरह

की विद्याओं की साधना पर बल दिया गया। इंद्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान ही ज्ञान की पराकाष्ठा नहीं है। हमारे मानस की बनावट ही ऐसी है, वह इंद्रियानुभविक ज्ञान का अतिक्रमण कर जाता है।

हम सब अपने आस-पास की दुनिया के साथ इतने आसक्त होते हैं कि उसे छोड़ना नहीं चाहते। हमारी इंद्रियों में ही सुख-दुख का आदि और अंत मौजूद होता है। पर कभी-न-कभी मन में यह सवाल खड़ा होता है कि क्या यह दुनिया सत्य है? सबकी अंतिम स्थिति मृत्यु ही है। धन, सौंदर्य, शक्ति सब कुछ अंततः समाप्त होता है। राजा हो या रंक, विद्वान हो या मूर्ख, सभी मृत्यु को प्राप्त करते हैं। क्या मृत्यु ही जीवन की अंतिम परिणति है? यदि ऐसा है तो आसक्ति क्यों? आसक्ति का त्याग नहीं कर पाते, यही माया है। यह प्रश्न सदा से उठता आया है। महाभारत में युधिष्ठिर से यही प्रश्न यक्ष का था—सबसे बड़ा आश्चर्य क्या है? युधिष्ठिर ने बताया कि प्रतिदिन लोग मर रहे हैं, फिर भी जो जीवित हैं, वे यह समझते हैं कि वे कभी नहीं मरेंगे। वस्तुतः सब कुछ का सापेक्ष अस्तित्व है। अपरिवर्तनीय नित्य सत्ता नहीं है। पर वर्तमान में सत-असत भिन्न-भिन्न हैं। यह सत और असत का मिश्रण है। सुख-दुख दोनों होते हैं। वास्तव में, सुखोत्पादक शक्ति जहाँ होती है, वहीं पर दुख का भी कारण रहता है। यह संसार सुख-दुख, दोनों ही तरह की घटनाओं का मिश्रण है। न मृत्युहीन जीवन होता है, न दुखहीन सुख। सुख की कामना सबकी होती है। सुख की लालसा में मनुष्य सर्वत्र भ्रमण करता है और इंद्रियों के पीछे भागता है। इंद्रियों में किसी को भी सुख नहीं मिलता। काम्य वस्तुओं के उपभोग से कभी वासना की निवृत्ति नहीं होती, वरन् घृताहुति के द्वारा अग्नि के समान वह और भी बढ़ जाती है—

न जातु कामानामुपभोगेन शाम्यति
हविशा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते।

सुख तो नित्य आत्मा में ही मिलता है। अतएव सुख प्राप्ति के लिए आत्मा पर ध्यान देना चाहिए। सब कुछ सत्य प्रतिभासित होता है, परंतु आयु बढ़ने के साथ वृद्ध होने पर वासनापूर्ति नहीं हो पाती है। दुनिया की प्रत्येक वस्तु का जीवन सीमित अवधि के लिए होता है। धन, संपत्ति, सामर्थ्य और गरीबी ही नहीं जीवन भी क्षण स्थायी है। वास्तविक समस्या अज्ञान है। हम अनंत होकर भी अपने को संत मानते हैं। अविनाशी, नित्य और शुद्ध होने पर भी हम अपने को छोटी देह मात्र मान बैठते हैं। अपने को देह मानते ही उसे सुंदर बनाने में जुट जाते हैं। तभी दुख का आरंभ होता है। हम जैसे होते हैं, वैसे ही जगत को भी देखते हैं। जगत के उपकार के लिए उस पर दोषारोपण करना छोड़ना होगा। दुर्बलता और अवसाद छोड़कर अच्छा चिंतन करना चाहिए। 'उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत' अर्थात् दूर हो लक्ष्य, परंतु उठकर, जगकर, श्रेष्ठ से ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। हमें अपने में विवेक, अभ्यास, स्वाध्याय, देव यज्ञ, पितृ यज्ञ, मनुष्य यज्ञ, भूत यज्ञ, सत्य, आर्जव, निश्कपट भाव या सरलता, दया, अहिंसा, दान, अनवसाद हताश न होना, प्रसन्नता का भाव विकसित करना चाहिए। हमें संकीर्णताओं को छोड़ व्यापक कल्याणकारिणी शक्ति के साथ कार्य करना चाहिए। उदार, व्यापक और असीम की ओर उन्मुख मानव धर्म की भावना अपेक्षित है। ऐसा धर्म जो परस्पर बंधुत्व, स्नेह और आदर के भाव पर आधृत हो, कल्याणकारी हो।